विनय के प्रकार

□ आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि

जैन धर्म गुणों का पूजक है। गुणों की पूजा उसका मुद्रालेख है। इस दृष्टि से जो गुण मानव-जीवन का निर्माण करने में, आत्मा की शुद्धि करने में और जीवन को उन्नत करने में सहायक हों, उनके प्रति झुकाव और श्रद्धा तथा उनका बहुमान और गुणगान करना, उनकी आशातना न करना और इस रूप में विनय करना आवश्यक हो जाता है। साथ ही गुणों से समृद्ध हों, उनका भी विनय करना आवश्यक है। क्योंकि गुणी का विनय करना भी उस गुण का ही विनय है। गुणी का विनय करने से उन गुणों को प्रोत्साहन मिलता है। जनता उन गुणों को जीवन में अपनाने के लिए प्रेरित होती है। इसी तरह प्रकारान्तर से गुणी की सेवा, पूजा, भक्ति, उनके धर्म-प्रसार के कार्यों में सहयोगदान आदि सब बातें गुणपूजा में ही समाविष्ट होती हैं। इसीलिए उत्तररामचरित में सीता के प्रति अरुन्धती ने ये उद्गार निकाले—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।

अर्थात्—गुणियों में गुण ही पूजा के कारण है, न तो लिङ्ग (वेष) ही पूजा का कारण है और न उम्र।

जैसे धर्म धर्मी में रहता है, उसी प्रकार गुण गुणी में रहते हैं। तब फिर हम गुणों का तो विनय करें, लेकिन गुणों के धाम (निवास-स्थान) का विनय न करें; यह कहां तक उचित है?

कई लोग यह कहा करते हैं कि गुणीपुरुषों में कई दोष भी होते हैं। अतः जब हम गुणी का विनय करने जाते हैं तो उनके गुणों के समर्थन के साथ-साथ दोषों का भी समर्थन हो जाता है, किन्तु यह तर्क असंगत है। किसी नगर के बाग-बगीचे, सुन्दर इमारतें, विद्यालय तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्योग-मंदिरों को देख कर कोई उस नगर की प्रशंसा करता है तो उससे नगर में रही हुई गंदे पानी की गटरों का समर्थन नहीं हो जाता। किसी भी चीज के समर्थन का आधार उसके समर्थक की भावना पर निर्भर है। अगर उसकी भावना किसी गुणी पुरुष के गुणों को देख कर उन गुणों का ही समर्थन करने की है तो उसमें निहित दोषों का समर्थन नहीं हो जायेगा। अपितु जिन गुणों की दृष्टि से समर्थन है, उन गुणों का ही समर्थन होगा। जैनधर्म का अनेकान्तवाद सापेक्ष दृष्टि से किसी भी वस्तु में रहे हुए धर्म (सत्य) को ग्रहण करने की बात कहता है। अत: अमुक गुणों की अपेक्षा से ही उस गुण का समर्थन करना सिद्धान्त-सम्मत है। जैसे अरिहन्त के गुणों की अपेक्षा से अरिहन्त का विनय उसका समर्थन है, साधु के गुणों की अपेक्षा से साधु का भी विनय गुण-सापेक्ष है। किसी साधु में कोई दोष होंगे तो भी उस साधु का विनय करने वाले की भावना उन दोषों का समर्थन करने की नहीं है तो फिर दोषों का समर्थन कैसे हो जायगा?

इसी तरह कई लोग यह भी कहा करते हैं, कि इस झमेले में न पड़ कर हमें निखालिस गुणों का ही विनय करना चाहिए; गुणी का विनय नहीं। परन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि आप गुण का विनय करेंगे तो किसी न किसी व्यक्ति में रहे हुए गुणों का ही करेंगे या केवल उस गुण का केवल नाम लिख कर करने लगेंगे? गुण जब भी रहता है, तब वह किसी न किसी व्यक्ति में ही रहता है; अकेला नहीं। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र के "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा:" इस सूत्र के अनुसार गुण अपने आप में स्वयं निर्गुण—निराकार होते हैं; परन्तु वे किसी न किसी द्रव्य का आश्रय लिए हुए होते हैं। गुणों की अभिव्यक्ति भी किसी न किसी चेतनाशील प्राणी के द्वारा ही हुआ करती है, उसके बिना अमूर्त गुण को पहचानना भी कठिन है।

इसीलिए गुणपूजक जैनधर्म ने गुण के साथ-साथ गुणीपुरुषों का भी विनय स्पष्टरूप से बताया है। केवल गुणों का विनय करने से या गुणों को ही अपनाने से जब कभी संकट आएगा, भय या प्रलोभन आएँगे, या और कोई विकट समस्या आएगी तब उक्त गुणों (जिनका वह विनय कर रहा है) पर टिके रहने की प्रेरणा या प्रोत्साहन कैसे मिलेगा? वह तो गुणी-पुरुषों के प्रति विनय करने से ही मिल सकता है। भले ही वे गुणी-पुरुष हमारे सामने वर्तमान समय में हाजिर न हों, परोक्ष हों, फिर भी उनके प्रति श्रद्धापूर्वक किया हुआ विनय हमें उनके गुणों का स्मरण करायेगा और विकट समय में हमें उस गुण पर दृढ़ रहने की प्रेरणा देगा। हमारे द्वारा उक्त गुणीपुरुष का विनय हमें ही नहीं; और लोगों को भी उन गुणों को अपने जीवन में अपनाने की प्रेरणा देगा।

इतना ही नहीं, जैनधर्म ने तो गुणवृद्धि या गुणविकास करने में जो-जो महानिमित्त हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनका भी विनय करने की बात कही है। देखिए नंदीसूत्र में कहा है—

'संघं गुणायरं वंदे'

"गुण की खान श्रीसंघ को मैं वन्दन करता हूं।"

असल में देखा जाय तो गुणी के बिना गुण का कोई महत्त्व नहीं। दोनों का अविनाभाव-सम्बन्ध है। मिश्री में रही हुई मिठास अलग कर देने से कोई उसे मिश्री नहीं कहेगा। इसी प्रकार अग्नि में से उष्णता का गुण निकाल दिया जाय तो अग्नि का अस्तित्व ही खत्म हो जायगा। इसी प्रकार गुणी में से भी गुण निकाल दिया जाय तो कोई उसे गुणी नहीं कहेगा। गुण यदि गुणी से अलग पड़ा रहेगा या उसका नाम किताब में लिखा होगा तो कोई उसका विनय नहीं करेगा; क्योंकि वह गुण केवल नाम का है, उसमें उस गुण की गुणत्व-शक्ति नहीं है। उस गुण की गुणत्व-शक्ति गुणी व्यक्ति के साथ संसर्ग होने से ही प्रगट होगी। मिश्री के साथ रहने से ही मिश्री में मधुरता प्रगट होगी, कागज पर 'मधुरता' शब्द लिखा होगा, तो वहाँ मधुरता प्रगट नहीं होगी।

यही कारण है कि जैनधर्म ने गुण और गुणी दोनों के प्रति शुद्ध भावपूर्वक विनय करना तप बतलाया है, धर्म बतलाया है और आचार बतलाया है।

विनय के ५२ प्रकार

आइए, अब जरा यह भी विचार कर लें कि जैन धर्म ने किन-किन मुख्य गुणों और गुणी-जनों या गुणियों के प्रति खासतौर से विनय करना बतलाया है।

यों तो शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से भेद-प्रभेद करके विनय का वर्णन किया गया है। कहीं विनय के तीन भेद बताए हैं, कहीं चार, कहीं पांच, कहीं १० और कहीं १३ भेद बताए हैं। इन्हीं तेरह भेदों के साथ विनय के चार प्रकारों से गुणा करने पर १३x४=५२ भेद होते हैं।

यहाँ पहले हम विनय के ५२ भेदों की चर्चा करेंगे। जैनधर्म में मुख्य गुण और मुख्य गुणी दोनों मिला कर विनय के लिए १३ पात्र बताए गए हैं। जिनका विनय किया जाना चाहिये। ये इस प्रकार हैं:—(१) तीर्थंकर, (२) सिद्ध, (३) कुल, (४) गण, (५) संघ, (६) क्रिया, (७) धर्म, (८) ज्ञान (९) ज्ञानी, (१०) आचार्य, (११) उपाध्याय, (१२) स्थविर और (१३) गणी।

उपर्युक्त १३ विनययोग्य पात्रों में से तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर और गणी ये ६ गुणी पुरुष हैं; कुल, गण और संघ ये तीन गुणी संस्थाएँ हैं और क्रिया, धर्म एवं ज्ञान ये तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुण हैं। यद्यपि कुल, गण और संघ गुणी संस्थाएँ हैं, तथापि संघ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों प्रकार के व्यक्तियों को मिला कर माना जाने से ये भी एक तरह से गुणी व्यक्ति हैं। इसी प्रकार गहराई से देखें तो इन १३ ही का समावेश देव, गुरू और धर्म इन तीनों में हो जाता है। देव में तीर्थंकर और सिद्ध दो का, गुरु में आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, कुल, गण और संघ का, और धर्म में क्रिया, धर्म और ज्ञान का समावेश हो जाता है।

हाँ तो, उपर्युक्त १३ विनययोग्य गुणपात्रों की (१) आशातना न करना, (२) भक्ति करना, (३) इनका बहुमान करना, (४) इनके गुणगान करना, इनके गुणों की प्रशंसा करना, या इन्हें प्रतिष्ठा देना, इन चारों प्रकार से विनय किया जाता है। फलत: १३ बोलों को ४ प्रकार से गुणाकार करने पर विनय के ५२ भेद बनते हैं। अब हम क्रमश: इन पर विवेचन करेंगे :—

तीर्थंकर-विनय

जैन धर्म के पंच-परमेष्ठी-मंत्र में सर्वप्रथम तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है, जबकि सिद्ध इनसे पद में ऊंचे होते हैं। इसका कारण यह है कि तीर्थंकर शरीरधारी होते हैं, इसलिए उनके द्वारा अनेक जीवों को शुद्ध धर्म का लाभ मिलता है, कल्याण के मार्ग की प्राप्ति होती है। इस संसार-सागर से पार उतरने के लिए जीव उनके द्वारा बनाई गई संघरूपी नौका का आश्रय लेता है। उनके द्वारा शुद्धि, निर्वाण, कर्मक्षय और मुक्ति की प्रेरणा मिलती है। अत: आसन्न-उपकारी होने से उनका नाम पहले लिया गया है। जैसे दादा-परदादा पिता से भी अधिक गुणी थे, या वे भी उपकारी थे, लेकिन वर्तमान में उनकी अविद्यमानता में पिता ही निकट-उपकारी हैं, इसलिए उनका नाम ही विशेषकर लिया जाता है।

वे तीर्थंकरदेव, देवाधिदेव, साकारदेव, जिनेश्वर, जिन, अरिहन्त, या वीतराग आदि नामों से पुकारे जाते हैं। वैदिक धर्म की भाषा में इन्हें जीवन्मुक्त (सदेह मुक्त) अवतारी, धर्म (तीर्थ) संस्थापक कहा जा सकता है।

ये १८ दोष-रहित, बारह गुण-सहित होते हैं। जितने भी तीर्थंकर होते हैं, वे सब ३४ अतिशय, ३५ वाणी के गुण, तथा १२ प्रकार की परिषद् से युक्त होते हैं। आठ कर्मों में से ये ४ घाती-कर्मों—(जिनसे आत्मा के गुणों का सीधा घात होता है, उन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का सर्वथा क्षय कर देते हैं, शेष ४ अघातीकर्म (जो शरीर से सम्बन्धित हैं, आत्मगुणों का घात सीधे नहीं करते, वे वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म) रह जाते हैं। वे भी इस शरीर के अवसान तक ही रहते हैं, इस जन्म के शरीर के अवसान के साथ ही वे शेष चारों कर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और वे निरञ्जन, निराकार, सिद्ध-बुद्ध बन जाते हैं। उनके बाद वे फिर जन्म-मरण नहीं करते। जैनधर्म गुण का पुजारी होने से इनमें नाम भेद होने से विनय में कोई भेद नहीं करता। आचार्य हेमचन्द्र ने इसी प्रकार की स्तुति की है—

"भववीजांकुरजनना रागाद्या: क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
यत्र यत्र समये योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुष: स चेद् एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते॥"

अर्थात्—जिनके संसाररूपी बीज (कर्मरूपी) के अंकुर को पैदा करने वाले रागद्वेषादि नष्ट हो जाते हैं, उनका नाम चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिन हो, उन्हें मेरा नमस्कार है। जिस-जिस समय में जो-जो महापुरुष जिस-जिस नाम के हुए हैं, अगर वे राग-द्वेषादि दोषों से रहित हैं तो एक ही है, उस भगवान् को मेरा नमस्कार हो।

इस प्रकार किसी भी नाम के तीर्थंकर हों, उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना, उनकी आशातना न करना, उनका बहुमान करना, उनके गुणगान करना तथा उनकी भक्ति करना उनका विनय है।

तीर्थंकर सर्वोच्च संसारी हैं। संसार में वे सर्वोच्च शिखर पर हैं। संसार में उनसे बढ़ कर पुण्यात्मा कोई नहीं है। वे साकार परमात्मा हैं। उनके शरीर होने से रूप, रस, गन्ध और स्पर्श भी होते हैं। शरीर होने से शरीर की सभी क्रियाएँ वे करते हैं। फिर भी शरीर के प्रति या संसार की किसी भी वस्तु के प्रति उनकी आसक्ति या मूर्छा नहीं होती। और न किसी के प्रति वे घृणा, द्वेष या वैर ही करते हैं। वे वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं।

कोई यह कह सकता है कि तीर्थंकर इस समय इस क्षेत्र में विद्यमान नहीं हैं, तो फिर उनका विनय कैसे किया जायेगा? हम यह पहले कह चुके हैं कि गुणी-पुरुष की चाहे मौजूदगी हो चाहे न हो, विनय तो उनमें रहे हुए गुणों के प्रति है। इसलिए सर्वोच्चगुणी तीर्थंकरों की अविद्यमानता में भी उनके गुणों से प्रेरणा लेने के लिए तथा संकट, भय, प्रलोभन आदि के समय भी हम उन गुणों पर स्थिर रह सकें तथा उन गुणों को अपनाने की प्रेरणा या प्रोत्साहन भी दूसरे लोगों को मिल सके, इस दृष्टि से उनके प्रति विनय उपर्युक्त चारों प्रकार से किया जाता है।

तीर्थंकर जब विद्यमान होते हैं, तब भी उनके दर्शन करके उनके प्रति विनय करने वाले व्यक्ति उनके गुणों का या आत्मा का तो साक्षात् दर्शन या विनय नहीं कर सकते; क्योंकि गुण और आत्मा दोनों ही अमूर्त हैं, अरूपी हैं। अत: वे उनके वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शयुक्त इस भौतिक देह का ही दर्शन या विनय करते हैं। तीर्थंकर भगवान् की आत्मा जिस शरीर को धारण किए हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने से दर्शनार्थी या विनयार्थी उस शरीर का दर्शन या विनय कर सकते थे । और इस प्रकार शरीर का दर्शन करते हुए वे अशरीरी आत्मा की कल्पना करते थे और कहते थे—'हमें भगवान् का साक्षात् दर्शन हुआ या हमने भगवान् का साक्षात् विनय किया ।'

अब जबकि तीर्थंकर भगवान् विद्यमान नहीं हैं और उनका दर्शन या विनय करना गुणवृद्धि एवं गुण-प्रेरणा के लिए जरूरी है, तो एक सम्प्रदाय मूर्ति का अवलम्बन लिए बिना ही अपनी भावना या कल्पना से तीर्थंकर भगवान् का विनय, बहुमान या वन्दनादि करता है, दूसरा सम्प्रदाय उनकी तदाकारमूर्ति स्थापित करके उसका अवलम्बन लेकर अपनी भावना या कल्पना से तीर्थंकर भगवान् का विनय, बहुमान या वन्दनादि करता है । इन दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं में कोई खास अन्तर नहीं है ।

तीर्थंकर की मूर्ति को देख कर विनय-भक्ति-बहुमान-वन्दनादि करने वाले भी पाषाण की मूर्ति का नहीं, अपितु उस मूर्ति वाले महापुरुष का मूर्ति के माध्यम से स्मरण करके करते हैं । अगर मूर्ति का ही विनय-भक्ति-बहुमान-वन्दनादि करते तो वे तीर्थंकर का गुणगान करने के बदले मूर्ति का गुणगान करते कि "हे मूर्ति ! तुम बहुत चिकनी हो, संगमरमर के पाषाण की बनी हुई हो, तुम ठण्डे स्पर्श वाली हो इत्यादि ।" परन्तु ऐसा तो संसार में कोई भी मूर्तिपूजक नहीं कहता होगा । सभी मूर्तिमान (ईष्ट देव) के गुणगान करते हैं कि "हे प्रभो ! आप वीतराग हो ! आप समता की मूर्ति हो ! क़रुणा के सागर हो ! विश्ववत्सल हो ! धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हो ! आदि !"

यह जरूर है कि मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान प्रभु के गुणों को अपने जीवन में अपनाने तथा कषायों, रागद्वेषों, विषयासक्ति, हिंसादि दुर्गुणों का त्याग करने की और लक्ष्य न देकर जहां केवल भौतिक लालसा, कामना या स्वार्थ की सिद्धि को लेकर विनयादि किया जाता है, मूर्ति के पीछे आडम्बरों या क्रियाकाण्डों के भंवरजाल में ही गोते लगाये जाते हैं; गुणों का लक्ष्य भुला दिया जाता है; या चमत्कार के चक्कर में पड़ा जाता है; वहाँ जरूर उक्त प्रक्रिया में संशोधन-परिवर्द्धन का सोचा जाना चाहिये ।

अमूर्तिपूजा में मानने वाले भी तीर्थंकर का शरीर सामने न होते हुए भी शरीर की कल्पना करके उनकी आत्मा का विनय-वन्दनादि द्वारा करते ही हैं । वे भी अगर केवल शरीर से ही विनय-वन्दनादि की क्रिया करके रह जाते हैं, उसके साथ भावों का रस नहीं घोलते; गुणों की प्रेरणा तथा रागद्वेष, कषाय, विषयासक्ति, हिंसा-असत्यादि को छोड़ने की प्रेरणा नहीं लेते; न ही उधर लक्ष्य देते हैं; मात्र क्रिया-काण्डों की अटवी में ही भटकते हैं, तो उनके लिए भी अपनी प्रक्रिया में संशोधन-परिवर्द्धन करना जरूरी है । ताकि साधना में सरसता आए, शुष्कता हटे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्तिपूजा में मानने वाले तदाकार-मूर्ति का आधार लेकर उस मूर्ति द्वारा प्रभु का स्मरण करते हैं। जैसी आकृति वाली मूर्ति होती है, उसे देख कर प्रायः उसी मूर्तिमान की याद आती है। मान लीजिए, आपके सामने किसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, भ. कृष्ण, भ. बुद्ध या भ. महावीर आदि की ४-५ मूर्तियाँ लाकर रख दीं। आप मूर्ति की आकृति देख कर तुरन्त पहिचान लेते हैं कि यह अमुक की मूर्ति है। शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि-सहित आकृति (मूर्ति) को देखते ही आप कह उठते हैं यह 'विष्णु' की मूर्ति है। मयूरपिच्छ का मुकुट और हाथ में बांसुरी वाली आकृति देखते ही आप को श्रीकृष्ण का स्मरण हो जाता है। धनुष्यबाण देखते ही आप पहचान जाते हैं कि यह मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की मूर्ति है। पद्मासनस्थ या अर्द्धपद्मासनस्थ ध्यानमुद्रा में लीन मूर्ति या ध्यानावस्था में खड़ी हुई मूर्ति को देख कर अपने संस्कारानुसार आप पहचान जाते हैं कि यह जैन-तीर्थंकर की मूर्ति है। इसी प्रकार जैन-तीर्थंकर-मूर्ति जैसी आकृति हो, लेकिन उस पर वस्त्र या यज्ञोपवीत चिह्न खुदा हो तो जिसे मालूम होता है, वह झटपट कह देता है कि यह बुद्धभगवान् की मूर्ति है। इस प्रकार उस-उस आकृति वाली मूर्ति को देख कर उस-उस मूर्तिमान का स्मरण किया जा सकता है।

अतः तीर्थंकर-विनय वास्तव में तो तभी सिद्ध होगा जब हम तीर्थंकर के द्वारा चलाए गए धर्म को जीवन में उतारेंगे; गुणों को अपनाएंगे और संकटादि के समय भी अपने धर्म पर डटे रहेंगे।

सिद्ध-विनय

गत चौबीसी में जितने भी तीर्थंकर थे, वे भी सिद्ध हो गए और दूसरे भी सामान्य केवली या वीतराग-पुरुष अपने अन्तिम देह और आठों कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध होते हैं। वे पूर्णमुक्त (विदेहमुक्त, अशरीरी) हो जाते हैं। ऐसे मुक्त पुरुष केवल जैनधर्म-संघ द्वारा ही होते हों, ऐसी बात नहीं है। जैनधर्म गुणपूजक होने से वह किसी भी धर्म संघ, देश, वेष, लिंग, ज्ञाति, या किसी भी प्रकार से, किसी से भी बोध-प्राप्त साधक-साधिका को मुक्ति का अधिकारी मानता है। तीर्थ-अतीर्थ आदि १५ प्रकारों में से किसी भी प्रकार से सिद्ध यानी निरंजन-निराकार, परमात्मा हो जाने के बाद वह उनमें कोई भेद नहीं करता। क्योंकि वहाँ तो नाम, रूप, देह, गेह, मोह-माया, कर्म-काया सब छूट जाते हैं। केवल शुद्ध आत्मा ज्योति में ज्योतिस्वरूप हो कर रहती है। ऐसे निरंजन-निराकार सिद्ध हो जाने पर वे पुनः संसार में नहीं आते। जैसे जैन-साधनाओं में उनकी स्तुति के समय कहा जाता है—

"सिवमयलमरुवमणंतक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"कल्याणकार, अचल, अरूप, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, और अपुनरावृति (जहाँ जाने के बाद पुनः लौटना नहीं होता) सिद्धि गति नामक स्थान को प्राप्त ।"

भगवद्गीता में भी यही बात कही है—

"यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम ।"

यानी—जहाँ पहुंच कर कोई लौटते नहीं, वही परमधाम मेरा है । यहाँ से पहले या पीछे किसी भी प्रकार से कर्मक्षय करके सिद्ध या मुक्त होने के बाद, वहाँ (सिद्धिगति में) कोई फरक नहीं होता । सिद्ध होने से पूर्व की अवस्थाओं को लेकर उपचार से यहाँ की अपेक्षा ही सिद्धों के १५ प्रकार किये हैं । वहाँ सभी सिद्ध एक समान हैं । जहाँ एक सिद्ध है, वहीं अनन्त सिद्ध हैं ।

सिद्ध भगवान् के मूल ८ गुण हैं—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तबलवीर्य, अव्याबाध सुख, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरुलघु । वैसे तो प्रत्येक आत्मा के अनन्त गुण हैं । पर ये ८ गुण सिद्धों में विशेष प्रकार से होते हैं ।

सिद्ध भगवान् का विनय करने के लिए तो भावना ही उपयोगी माध्यम हो सकता है । इसके अलावा स्तुति, बहुमान, पूर्ण श्रद्धा, भक्ति, गुण-गान, अनाशातना आदि कई प्रकार से विनय किया जा सकता है । और वास्तव में यहाँ भी 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' या 'आरुग्गबोहि-लाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु' आदि प्रार्थनाएं भक्ति की भाषा में हैं । इनका आशय इतना ही है कि "मैं सिद्धि (मुक्ति) के लिए प्रबल पुरुषार्थ करूं, या स्वस्थ-बोधिलाभ या उत्तम समाधि के लिए स्वयं प्रयत्न करू, उनमें कहीं अड़चन आती हो, मेरी शक्ति कम पड़ती हो, या मैं रागद्वेषादि शत्रुओं से हार खा जाऊँ, वहाँ प्रेरणाबल प्राप्त हो ।" भावना में तो असीम बल है ही । भावों की गति भी देशकाल की दूरी की परवाह नहीं करती । अतः भावों—शुद्ध एवं प्रबल संकल्पों द्वारा आत्मबल प्राप्त करने में सिद्ध भगवान् निमित्त बन सकते हैं, बशर्ते कि विनय और पुरुषार्थ पूरा हो ।

कुल-विनय एवं गण-विनय

साधुओं के समुदाय को गच्छ या गण कहा जाता है, जैसे खरतर-गच्छ, तपोगच्छ आदि । और उन गणों या गच्छों के समूह को कुल कहते हैं; जैसे हमारा और आपका चान्द्रकुल है । मूल में इस गच्छ का नाम कोटिक-गच्छ था । बाद में कालान्तर में इसका नाम तपो-गच्छ प्रचलित हो गया है ।

गण और कुल के प्रति विनय करना गणविनय और कुलविनय है । मतलब यह है कि गण और कुल के गुणीजनों के प्रति विनय करना, उनका बहुमान करना, उनका गुणगान करना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके धर्मकार्यों में सहानुभूति रखना, सहयोग देना, अच्छा कार्य कोई भी साधु-साध्वी कर रहे हों उनकी तौहीन न करना, उनके कार्यों में रुकावट न डालना, हस्तक्षेप न करना, बल्कि श्रद्धापूर्वक चलना। इसका मतलब यह भी नहीं है कि दूसरे गणों और कुलों के प्रति अविनय करना, घृणा, द्वेष, संघर्ष या वैरविरोध करना। क्योंकि ऐसा करना संघ का अविनय करना होगा। संघ व्यापक है, उसमें तो सभी गणों और कुलों का समावेश हो जाता है। आज साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण एक-दूसरे सम्प्रदायों में परस्पर संघर्ष, वैर-विरोध, नीचा दिखाने की वृत्ति, कलह आदि राग-द्वेषयुक्त कार्य हो रहे हैं; वीतरागता की वृत्ति के नहीं। यह सारे कार्य संघ एवं तीर्थंकर के प्रति अविनय के द्योतक हैं।

संघ-विनय

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका चारों मिलकर चतुर्विध संघ कहलाता है। इस चतुर्विध संघ का बहुमान, श्रद्धा-भक्ति, गुणगान, और अनाशातना आदि के रूप में विनय करना संघ-विनय है। संघ में परस्पर विचारभेद या आचारभेद हो तो उसको ले कर संघर्ष, क्लेश, या द्वेष या वैरविरोध पैदा न करना, बल्कि सहिष्णु बन कर परस्पर समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करना। मूर्तिपूजा-अमूर्तिपूजा; मुखवस्त्रिका, दण्डग्रहण-दण्ड का अग्रहण, तिथिचर्चा, सचित्त-अचित्तचर्चा, आदि छोटी-छोटी उत्तरगुण की बातों को लेकर बवण्डर मचाना, द्वेष बढ़ाना और एक दूसरे को मिथ्यात्वी कहना, गालीग़लौज पर उतर आना, परस्पर पर्चेबाजी करना ये सारे कृत्य संघ एवं संघस्थापक (तीर्थंकर) के प्रति अविनय के हैं। भ. महावीर के महापुत्र इस तरह परस्पर लड़ें, और कर्मबन्धन करें, यह संघ का अविनय है।

'नमो लोए सव्वसाहूणं' मंत्र में किसी भी एक सम्प्रदाय (दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानक़वासी या तेरापंथी) गच्छ, कुल अथवा धर्मसंघ के ही नहीं; वरन् साधुत्व की साधना में परायण जगत् के समस्त साधु-साध्वियों को नमस्कार करने का उल्लेख है। यहाँ किसी एक अमुक सम्प्रदाय या धर्मसंघ का भी पक्ष नहीं लिया गया है। क्योंकि यह धर्म वीतराग का है; निष्पक्ष पुरुषों का है। चाहे किसी भी वेष में कोई भी साधु-साध्वी (चाहे मुनि, भिक्षु, ऋषि कहलाते हों); जो सत्य अहिंसादि महाव्रतों की साधना करते हों, वे सब पूजनीय, वन्दनीय और आदरणीय हैं। उत्तरगुणों के पालन में—क्रियाकाण्डों या धर्म साधनों में—अन्तर हो सकता है, सो भले रहे, परन्तु उन्हें गुण को देखना है। क्योंकि कहा है—

'गुणेहि साहू'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'गुणों से साधु को मानना चाहिए।' अगर साधुत्व के गुण हैं, तो उसे वन्द्य और आदरणीय समझ कर विनय करना ही चाहिए। रोटी कैसे पकी है ? यह न देख कर; यह रोटी भूख मिटाने वाली है या नहीं ? यह देखा जाता है। इसी प्रकार किस साधु या साध्वी की साधना किन क्रियाकांडों से, किस वेष में, किस क्षेत्र में या किन धर्म-साधनों को लेकर चल रही है ? यह देखने के बजाय उसमें साधुत्व के गुण परिपक्व हो रहे हैं या नहीं ? संयम की साधना पक रही है या नहीं ? वीतरागता, समता, कषाय-क्षीणता, विषयासक्ति-मन्दता अहिंसा-सत्यादि गुणों की दृढ़ता आदि की मात्रा बढ़ रही है या नहीं ? यही देखो। संकीर्ण दृष्टि से और सिर्फ साम्प्रदायिकता की दृष्टि से सोचना और तदनुसार व्यवहार करना गुणीसाधु-साध्वियों के प्रति अन्याय करना है; उनके द्वारा होने वाले सद्धर्मलाभ से वंचित होना है और इस प्रकार उनकी घोर आशातना करके कर्मबन्धन करना है।

गुणी साधुओं की तरह योग्य साध्वियों की भी अगर कद्र नहीं की जाती, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखा जाता है, उनके जीवन-विकास का कोई ध्यान नहीं रखा जाता, उनके उचित अधिकारों (व्याख्यान देने, धर्मप्रभावना करने, धर्म-प्रचार करने आदि) का हनन किया जाता है, उनका तिरस्कार किया जाता है तो ऐसा करना साध्वियों की घोर आशातना है।

श्रमण-श्रमणियों के प्रतिक्रमण में 'श्रमणसूत्र' में 'तेत्तीसाए आसायणाए' (३३ प्रकार का आशातना) से प्रतिक्रमण (दुष्कृत्य से निवृत्त होने) का पाठ आता है। वहाँ जैसे 'साहूणं आसायणाए' (साधुओं की आशातना से प्रतिक्रमण) पाठ आता है, वैसे ही 'साहूणीणं आसायणाए' (साध्वियों की आशातना से प्रतिक्रमण) पाठ भी आता है। तब फिर क्या कारण है कि साध्वियों के प्रति होने वाले इस आशातनारूप अविनय के प्रति आज जरा भी ध्यान नहीं दिया जाता ?

इसी प्रकार इसी पाठ में आगे चल कर 'सावयाणं आसायणाए' (श्रावकों की आशातना से प्रतिक्रमण) तथा 'सावियाणं-आसायणाए' (श्राविकाओं की आशातना से प्रतिक्रमण) पाठ भी आता है। और यह पाठ प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय बोला जाता है। परन्तु आज श्रावक-श्राविकाओं के द्वारा साधु-साध्वियों को कोई हितकर, युगानुरूप धर्मानुकूल, या संघकल्याणकर बात सप्रेम, सविनय भी कही जाय तो प्रायः ठुकरा दी जाती है, या उपेक्षा की जाती है। कभी-कभी तो किसी साधु या साध्वी में अमुक महाव्रतभंग का दोष हो और किसी श्रावक-श्राविका द्वारा सविनय निवेदन करने पर भी उसे उनके गुरु या गुरुणी द्वारा दबाने या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छिपाने के प्रयत्न होते हैं, हितैषी श्रावक-श्राविका को उल्टी डांट पड़ती है, या समाज में उन्हें बहिष्कृत कराने तक के हथकंडे चलते हैं। यह श्रावक-श्राविका की आशातना नहीं तो क्या है? बल्कि कई बार तो हितैषी श्रावक-श्राविकाओं द्वारा प्रेम से साधु-साध्वियों को सावधान किये जाने पर या तो उन्हें डांटा जाता है कि "क्या तुममें अवगुण नहीं है? पहले तुम ही सुधर जाओ, आदि।"

इस प्रकार के शब्द या दुर्व्यवहार श्रावक-श्राविकावर्ग की अविनय-आशातना के ही लक्षण हैं। इसी प्रकार संघ में किसी श्रावक की परिस्थिति खराब हो, आर्थिक तंगी हो और उसके कारण वह अनीति की राह पर चलने को मजबूर हो रहा हो तो उस समय साधुवर्ग उपेक्षा कर दे, उसके लिए सम्पन्न श्रावकवर्ग को अपना धर्म न समझाए, कमजोर हालत वाले श्रावकों की बात को ठुकरा दे तो सचमुच वहाँ भी आशातना का दोष छिपा है।

मतलब यह है कि साधु-साध्वियों के लिए श्रावक-श्राविका की आशातना करना दोष है, वैसे ही श्रावक-श्राविकाओं द्वारा साधु-साध्वियों की आशातना करना दोष है। बाहर से तो 'मत्थएण वंदामि' या 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं' कह कर साधु-साध्वियों को वन्दन किया जाता हो; लेकिन उपाश्रय की सीढ़ियों से उतरते ही उनकी निन्दा, चुगली, उनके अवर्णवाद, उनके प्रति घृणा फैलाने के कार्य शुरू किये जाते हों तो यह विनय का नाटक घोर कर्मबन्धन का कारण है, सरासर आशातना है, अविनय है। इसी प्रकार साधु साध्वियों द्वारा कही हुई हितकारी; सच्ची बात को श्रावक-श्राविका ठुकरा दें, उनकी तौहीन करने लग जायं, उनके बताए हुए शुद्ध धर्ममार्ग पर न चलें, युगबाह्य विकासघातक कुप्रथाओं, तथा हानिकर रुढ़ियों से साधु-साध्वी निकालना चाहें लेकिन श्रावकवर्ग टस से मस न हो; उलटे, उनके इस सुधार कार्य में रोड़े अटकाने का प्रयत्न करे तो यह भी साधु-साध्वियों की अविनय-आशातना है।

श्रावक की भी आशातना न करने के रूप में विनय का ज्वलन्त और प्रेरक उदाहरण हमें उपासकदशांगसूत्र के पन्नों पर मिलता है—गणधर गौतमस्वामी और आनन्द श्रमणोपासक का। ये दोनों ही भ. महावीर के संघ की शोभा थे। दोनों की जीवनभूमि पर धर्म साकार होकर उतरा था। दोनों ही भ. महावीर की कृपा के पात्र थे।

वाणिज्यग्राम के बाहर अपनी पौषधशाला में आनन्द श्रावक ने अपने जीवन के सन्ध्याकाल में संलेखनासंथारा किया। इस तपःसाधना के कारण आनन्द का शरीर दुर्बल हो गया था। उठने-बैठने की शक्ति नहीं रही। धर्म-साधना करते-करते आनन्द को अवधिज्ञान हो गया था। गंभीर व्यक्ति सम्पत्ति पा कर कभी छलकता नहीं। आनन्द ने अपनी ऋद्धिसिद्धि का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कभी किसी के सामने बखान नहीं किया। योग्य व्यक्ति का संयोग मिलने पर प्रगट करने में कोई हानि भी नहीं, बल्कि कभी-कभी लाभ ही होता है। इधर ज्ञान और तप के संयोग की प्रतिमूर्ति गणधर गौतम छट्ठ (बेले) के पारणे के दिन वाणिज्यग्राम नगर में भिक्षार्थ पधारे। भिक्षा लेकर जब लौट रहे थे तो जन-जन के मुख से गौतम ने श्रावक आनन्द की तपस्या-साधना और धर्माराधना का श्रद्धापूर्ण यशोगान सुना तो वे अपनी भावना को रोक न सके। वे स्वयं आनन्द के पास जा पहुंचे। गणधर गौतम को आया जान कर आनन्द के मन में अपार हर्ष लहराने लगा। शरीर तपस्या से कृश हो चुका था, स्वागतसत्कार की भावना होने पर भी वह उठ नहीं सका। क्षीणस्वर में बोला—'भंते ! उठने की भावना होने पर भी उठ नहीं सकता। सविनय-सभक्ति मेरी वन्दना स्वीकार करें।' गौतम ने वन्दना स्वीकार की। भावपूर्वक वन्दन व चरणस्पर्श करने के बाद आनन्द ने पूछा—"भंते ! गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है।?"

गौतम—"हां, अवश्य हो सकता है?"

आनन्द—"तो भंते ! मुझे आपकी कृपा से वह प्राप्त हुआ है। मैं पूर्व, पश्चिम और दक्षिण गें ५००-५०० योजन तक, उत्तर चुल्ल-हिमवानपर्वत तक, ऊपर सौधर्म विमान तक और नीचे रत्नप्रभा के लोलुयच्युत नरकवास तक जान और देख सकता हूं।"

गौतम स्वामी ने शान्त स्वर में कहा—"आनन्द ! श्रावक या गृहस्थ को अवधिज्ञान तो हो सकता है, पर इतना लम्बा नहीं, इतने विस्तार-वाला नहीं। अत: अपने इस आलोच्य कथन की आलोचना करके जीवनशुद्धि करो।"

आनन्द ने विनीतभाव से कहा—"भगवन् ! क्या सत्य की भी शुद्धि की जाती है?"

गौतम—"सत्य में मिलावट हो तो शुद्धि की जाती है।"

"तो भंते ! आप भी अपनी शुद्धि करने की कृपा करें?" नम्रस्वर में आनन्द ने कहा। गौतमस्वामी को अपने विचारों पर कुछ सन्देह हुआ। सोचा—"आनन्द १२ व्रतधारी श्रावक है। उसकी धर्मनिष्ठा की प्रशंसा स्वयं प्रभु महावीर ने की है; वह कदापि झूठ नहीं बोल सकता। अत: उसकी बात में कुछ तथ्य हो तो मुझे प्रभु से पूछना चाहिए।" गणधर गौतम चार ज्ञान के धारक थे। फिर भी उन्होंने भगवान् महावीर जैसे केवलज्ञानी- सूर्य के रहते अपने चतुर्ज्ञानरूपी दीपक का उपयोग करना उचित न समझा। वे मौनभाव से ही वहां से चल पड़े। प्रभु के चरणों में उपस्थित होते ही अपने में रही शंका की गांठ खोल कर रख दी। वे विनययुक्तस्वर में बोले—"भगवन् ! मैं भूल की राह पर हूं या आनन्द?" भ. महावीर ने स्पष्ट रूप में कहा "गौतम !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूल की राह पर तुम हो, आनन्द नहीं। आनन्द का कथन सत्य है। उसमें शंका को जरा भी स्थान नहीं। तुम प्रायश्चित के भागी हो। जाओ, आनन्द के पास जाकर मिच्छामि दुक्कडं दो।"

सच्चा और विनीत साधक सत्य को पाकर क्रुद्ध नहीं: हर्षित होता है। और सच्चा गुरु अपने शिष्य के दोष को दबाता-छिपाता नहीं। वह लिहाज नहीं रखता। भ. महावीर ने यह लिहाज नहीं किया कि यह मेरा पट्टशिष्य है, गणधर है। गणधर गौतम तत्क्षण ही आनन्द के पास आए और अपनी भूल के लिए "मिच्छामि दुक्कडं" देकर क्षमायाचना की। गणधर गौतम और आनन्द दोनों ही सरलता और नम्रता के मधुर क्षणों में परस्पर क्षमायाचना कर रहे थे।

१४००० श्रमणों के अधिनायक गणधर गौतम में कितनी नम्रता थी? उनके मन में सत्य के प्रति कितना आदर था? सत्य के सामने वे मानापमान को आड़े नहीं लाते थे। इस प्रकार गणधर गौतम और आनन्द का यह पावनप्रसंग संघ-विनय का कितना जीता-जागता सन्देश है?

क्रिया-विनय

शुद्ध क्रिया अथवा शुद्धिपूर्वक क्रिया करने वालों का विनय करना क्रिया-विनय है। इसके बदले कई सूत्रों में 'चारित्रविनय' भी बताया गया है। क्रिया या चारित्र के प्रति विनय का रहस्य यही है कि अपनी आत्मा की वफादारीपूर्वक जो क्रिया या चारित्र ठीक व युगानुकूल, सत्य-अहिंसा में साधक, विकासवर्द्धक समझा जाय उसके प्रति सततनिष्ठा, श्रद्धा और आदरभाव रख कर पालन करे। और जो भी साधक इस प्रकार से क्रियावान या चारित्रवान हो उसके प्रति आदर, श्रद्धा व बहुमान रखे। परन्तु जो क्रिया दम्भवर्द्धक हो, विकासबाधक हो, युगबाह्य हो, केवल दिखावे के लिए ही जिसका अस्तित्व हो, उसका बोझ व्यर्थ ही बिना मन से ढोए जाना क्रिया-विनय नहीं है। न चारित्र के नाम पर अन्ध-विश्वास, चमत्कार, ज्योतिषबाजी या झूठे बहमों के चक्कर में जनता को फंसाना ही चारित्रविनय है। बल्कि जो साधक मौलिक-मर्यादाओं का दृढ़तापूर्वक पालन करता हो, उस पवित्रचारित्री पुरुष का विनय करना ही चारित्रविनय है।

धर्म-विनय

सत्य, अहिंसा, न्याय, ब्रह्मचर्य, ईमानदारी, नीति, अस्तेय; अपरिग्रहवृत्ति; आदि शुद्ध और व्यापक सद्धर्म के अंगों का अपनी-अपनी मर्यदा में रह कर वफादारीपूर्वक पालन करना; धर्म पर अटल श्रद्धा रखना; संकट; भय या प्रलोभन आने पर भी धर्म के प्रति आदर न छोड़ना; विचलित न होना; धर्म की मखौल उड़ा कर जनता को तथा स्वयं को धर्मश्रद्धाविहीन न बनाना; बल्कि धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से डिगते हुए को स्थिर करना; यह धर्म-विनय है। अंधेरे में भी; कोई न देखता हो; वहां भी, एकान्त में भी धर्म से विचलित न होना; धर्म-विनय है। क्योंकि धर्म-विनयी साधक जानता है कि व्यक्ति एवं समाज के धारण-पोषण-रक्षण एवं सत्त्वसंशोधन के लिए धर्मपालन की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके बिना समाज में अव्यवस्था पैदा होगी; समाज की सुख-शान्ति चौपट हो जायगी।

ज्ञान-विनय-ज्ञानी-विनय

ज्ञान का विनय करना ज्ञान-विनय है। इसी प्रकार ज्ञानगुणसम्पन्न व्यक्ति का विनय ज्ञानी-विनय है। वस्तुस्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानना ही शुद्ध ज्ञान है। इसके विपरीत अशुद्ध ज्ञान अज्ञान है। जिस में ज्ञान-विनय होता है; वह इतना नम्र होता है कि कहीं भी, किसी के पास भी वास्तविक ज्ञान मिलता हो; वह उससे ग्रहण करने में हिचकिचाएगा नहीं। सोना यदि गन्दी जगह भी पड़ा हो तो कौन छोड़ता है? उसी प्रकार ज्ञान भी किसी के पास हो, उसे प्राप्त कर लेने में हर्ज ही क्या है? ज्ञान या ज्ञानी का अविनय ५ प्रकार से होता है—(१) प्रद्वेष-ज्ञान से या ज्ञानी से द्वेष करना। अपने माने हुए शास्त्र के अतिरिक्त कहीं सत्यज्ञान या ज्ञानी मिलता हो, परन्तु तेजोद्वेषवश उसका विरोध करना। (२) निह्नव-जिससे या जिसके निमित्त से ज्ञान प्राप्त किया हो उसका नाम छिपाना। (३) मात्सर्य-किसी ज्ञान या ज्ञानी से डाह करना; उस पर झूठे दोषारोपण लगाना। (४) आशातना-ज्ञान या ज्ञानी की आशातना करना। जो ज्ञानदाता हैं; उसका तो विनय करना ही चाहिए; परन्तु ज्ञान के जो साधन हैं; उपकरण हैं—शास्त्र, ग्रन्थ, पुस्तकादि, उनकी भी बेअदबी करना; उन्हें पैर लगाना; थूक लगाना; उन्हें फाड़-तोड़ कर गन्दगी में फैंक देना; उनके द्वारा मिले हुए ज्ञान को क्रियान्वित करने का प्रयत्न न करना भी ज्ञान का अविनय है। क्योंकि सम्पूर्णज्ञान तो तीर्थंकर के पास है। तीर्थंकर केवलज्ञान द्वारा जान कर जो सुनाते हैं, उसे गणधर व्यवस्थित ढंग से शब्दों में रचते हैं; गूंथते हैं; फिर उसे लिपिबद्ध किया जाता है; वही श्रुतज्ञान कहलाता है। इसलिए श्रुतज्ञान के परमनिमित्त शास्त्र आदि का बहुमान करने की दृष्टि से ज्ञान (श्रुत) पंचमी को शास्त्र-ग्रन्थादि को नमन किया जाता है। ज्ञान की तरह ज्ञान के ये प्रबल निमित्त-शास्त्रादि भी आदरणीय हैं। (५) अन्तराय-ज्ञानप्राप्ति में अन्तराय डालना, किसी जिज्ञासु को ज्ञान देने में हिचकना, ज्ञानियों द्वारा ज्ञानप्रसार में रोड़े अटकाना, विक्षेप डालना अथवा कपट करके सिखाना ये सब भी ज्ञान के प्रति अविनय हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जंबाइद्धं वच्चामेलियं' आदि १४ प्रकार की ज्ञान की आशातना से बचना भी ज्ञान-विनय है।

सूरि (आचार्य) –विनय

पूर्वोक्त चार प्रकार से आचार्य का विनय करना आचार्य-विनय है। आचार्य संघ में आचारपक्ष की रक्षा करता है। स्वयं धर्माचरण करता है और दूसरों को भी धर्माचरण में प्रेरित करता है।

स्थविर-विनय

स्वयं धर्मपालन में स्थिर रह कर जो साधु-समुदाय को धर्मपालन में स्थिर रखता है, वह स्थविर कहलाता है। यदि कोई साधु-साध्वी अपने धर्माचरण या व्यापक धर्म-विचार में शिथिल होने लगता है तो ये उसे दृढ़ करते हैं। वृद्ध या अनुभवी व्यक्तियों की तरह ये साधु-साध्वियों को सुधारने का प्रयत्न करते हैं। अत: ऐसे स्थविरों का पूर्वोक्त चारों प्रकार से विनय करना स्थविर-विनय है।

उपाध्याय-विनय

उपाध्याय संघ में ज्ञानपक्ष के रक्षक होते हैं। शास्त्रों के पाठों को सुरक्षित रखते हैं। शास्त्र के अगाधज्ञान में गोते लगा कर साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं को वह ज्ञानरत्न देते हैं। उपाध्याय साधु-साध्वियों को शास्त्र का सामान्य अर्थसहित पाठ पढ़ाते हैं, इसलिए पाठक भी कहलाते हैं। आचार्य उस पर फिर विश्लेषणपूर्वक सामाजिक अनुभव की गहराई के साथ व्याख्या करते हैं। जैसे अध्यापक पुस्तक पढ़ाता है, प्राध्यापक (प्रोफेसर) उस पुस्तक के पाठ की विस्तृत व्याख्या एवं गंभीर विश्लेषण करके समझाता है, वैसे ही उपाध्याय और आचार्य क्रमश: करते हैं। ऐसे उपाध्यायों का विनय करना उपाध्याय-विनय तप है।

गणी-विनय

गणी आचार्य के नीचे का दर्जा है। इसे प्रवर्तक भी कहते हैं। साधुओं के जितने भी नित्य कर्म हैं, उन सबकी व्यवस्था गणी करते हैं। गणी सबको अपने-अपने कर्तव्य में लगाते हैं। जो जिस कार्य के योग्य होता है, उसे वही कार्य सौंपते हैं। आहार लाने वाले को आहार लाने में, वैयावृत्य (सेवा) करने वाले को वैयावृत्य करने में और अन्य काम के योग्य साधु को अन्य काम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में नियुक्त करते हैं। साधु-साध्वियों के पठन-पाठन का प्रबन्ध भी गणी ही करते हैं। ऐसे गणी का विनय पूर्वोक्त चारों प्रकार से करना गणीविनय कहलाता है।

इस प्रकार १३ किस्म के विनयपात्रों का विशद वर्णन समझकर विनयतप को जीवन में अपनाना चाहिए।

□

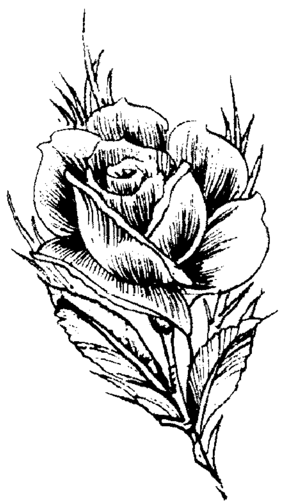

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org